THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186096

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—68—11-1-68—2,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 D81E Accession No. H3547

Author दुबे, राजा.

Title एक हस्ताक्षर और. 1959.

This book should be returned on or before the date last marked below.

एक हस्ताक्षर और

एक हस्ताक्षर और

राजा दुबे

हैदराबाद
नवहिन्द पब्लिकेशन्स

१९५९
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :

नवहिन्द पब्लिकेशन्स
८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

मुद्रक :

कर्माशियल प्रिंटिंग प्रेस,
८३१, बेगमबाज़ार, हैदराबाद

आवरण-चित्र :

एम. एफ़. हुसैन

H 3

मूल्य ३।००

दीदी के पत्र की इन पंक्तियों को

कभी-कभी जब सोचती हूँ तो समझ नहीं पाती कि मुझमें तुम्हारे लिए इतना स्नेह क्यों है ? पर वह है : इस सत्य से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसा तुमने लिखा, शायद वैसा ही है—उस जन्म में हम जरूर कहीं न कहीं जुड़े थे। तुम जानते हो, इस और उस जन्म जैसे प्रश्नों के प्रति मेरे मन में बड़ा सन्देह है। किन्तु ऐसी ही स्थितियों में पाती हूँ कि सिवाय पूर्वजन्म को मान लेने के अन्य समाधान है नहीं !...बहरहाल; जो हो, हम आज जिस स्नेह में बँधे हैं, वह सर्वदा ऐसा ही बना रहे : मैं इतनी ही कामना करती हूँ। मेरा स्नेह, मेरे कर्म—तुम्हारा मंगल बनें, इससे अधिक की मेरी चाहना नहीं।

आभारी हूं

भाई बद्रीविशाल का जिनके स्नेह-संरक्षण के कारण ही यह संग्रह सम्भव बन सका।

रा. दु.

क्रम

१ प्रार्थना
२ कठपुतलियाँ
४ प्रतिशोध
५ मुर्दा दर्द
६ क्रास पर लटका हुआ मैं
८ एक पृष्ठ और
९ स्थितियाँ
१० हम और आप
११ तुम्हारे नाम
१३ आखिरी बिदा से पूर्व : कुछ क्षण
१५ तीसरे की उपस्थिति और...
१७ पटाक्षेप
१९ एक शीर्षकविहीन कविता
२१ वर्षारंभ : कवि के धन्यवाद
२२ वत्सल शाम
२४ वसन्त
२५ सूर्यास्त
२६ लड़की शाम, प्रौढ रात और खाली मैं
२७ निष्कर्ष-चिन्तन
२८ 'बाँसुरी रक्खी हुई ज्यो भागवत के पृष्ठ पर'
३० ?
३२ नमस्कार
३३ दिवस-बन्धु की मृत्यु पर
३४ उदय की प्रतीक्षा में बच्चे
३५ आधीरात का उदास स्मरण
३६ नींद उचटने पर
३८ कल तमाम रात
३९ विभ्रम
४१ हार-स्वीकार
४३ अँधियारे में दिशा-बोध जैसा
४४ क्रमशः
४५ मध्यम-वर्ग की ट्रेजिडी

४६ काँटे ही सत्य हैं
४७ एक घरेलू पत्र
४८ एक क्षण
४९ अनवरत यात्रा
५० परवशता
५१ रेखा-पुत्र
५२ मुझमें...
५३ सर्प-आवाहन
५४ परीक्षा
५५ एक कौतुकपूर्ण जिज्ञासा
५७ बक़लम राजा दुबे
५८ कारण-अकारण
६० एक दिन
६२ आज भी
६४ सर्प, रेत और केंचुल
६५ अपशकुन और परिणाम
६६ अन्यथा
६८ तट का संरक्षण
६९ सच मानो उस समय
७१ समय की रौंद
७२ ज़हर बुझी सिद्धि
७३ माँसल स्पर्श
७४ स्व० मित्र की भूतपूर्व प्रेमिका के नाम
७७ गायक कवि-मित्रों से सादर
७८ गिरधर गोपाल और लाल दुपट्टा
७९ समय का फेर
८० फ़क्र की बात
८१ 'निराला' की जयन्ती पर
८२ दोगली नस्ल और कोढ़ी गन्तव्य
८३ टूटे सवेदन और बूढ़े ऊँट
८५ शिशु-सुरक्षा
८६ ३ आत्म-कथ्य
८८ हलन्त
८९ उन सबको
९१ स्पष्टीकरण : एक आत्मस्वीकार
९३ क्षमा-याचना
९५ अन्तिम

प्रार्थना

झुर्रीदार चेहरा, निढाल पीठ
और झुकी कमर देख कर
सोचता हूँ मैं :
अरे, आज आदमी कितनी जल्दी बड़ा होता है;
और फिर बड़ा हो कर
कितने वेग से बूढ़ा !
क्या विकास ही मृत्यु है ?
तो हे प्रभु दीनदयाल !
मेरा विकास तुरन्त रोक दो ।

कठपुतलियाँ

हम कठपुतलियाँ
भाग्य जिनके
दो-चार धागों से बँधे
क्या पता—
किन उँगलियों से जुड़े हैं ?
हमारी गति-अगति
आयोजन-नियोजन
गन्तव्य और गतिशीलताएँ
सभी तो कैद हैं परवश
एक पंजे में ।

मुक्ति दो माँ
हमें मुक्ति दो ओ !
कब तक रहें अभिशप्त हम ?

गले वह बाँध, जो
हमें बाँधे हुए है
या हमीं को शाप दो और
यह काठ का जीवन घुने,
अपमृत्यु को पहुँचे; क्षार हो जाए।
अन्यथा हम..

विद्रोहिणियाँ बन कर स्वयं
एक दिन यह काठ
तुम्हारे ही विरुद्ध
उठा लेंगे हाथ में!

हम कठपुतलियाँ
भाग्य जिनके
दो-चार धागों से बँधे या बाँध गये हैं।
और एक पंजे से जुड़े या जोड़े गये हैं।

प्रतिशोध

दर्द जो
परसों उठा
उसे मैंने
चुपचाप पी कर सह लिया ।

...कल भी उठा था
किन्तु मैंने
लोगों से कहा,
फूट कर बह लिया ।

आज भी
दर्द ने जब
सिर उठाया तो
सहा नहीं गया
किसी से
कुछ कहा नहीं गया ।

केवल कलम उठा—
पैड पर तुम्हारा नाम लिक्खा
और × दिया, बस ।

मुर्दा दर्द

खुल गयीं मुट्ठियाँ
पर उँगलियों ने
किसी रूप-रचना को
कसा ही नहीं—

फट गयी सीपियाँ
पर सम्पुटों में
कोई स्वाति-नक्षत्र तो
बसा ही नहीं—

यह दर्द जो
बिनछुये
आया-गया
मेरा नहीं था;
है, किसी और का !
छुएगा ! !
(आश्वस्त हूँ)
पर किसी और को ही

क्रास पर लटका हुआ मैं

उड़ेलो
तटों की उपेक्षाएँ, उड़ेलो ।
सीपियाँ, वन्ध्या समझ
दो, न दो आद्रताएँ आन्तरिक इन्हें :
यों ही सही !
घृणा से बँधी मुट्ठियों में
भरो अंमगल रेत यह
और फेंको उसे
प्रसव भोगते हुए नये रचनाकार पर तुम ।
नकारो अधबना अस्तित्व मेरा,
विकसते व्यक्तित्व को
सर्प-फन-सा कुचल-कूटो ।
किन्तु मैं
समर्पित हूँ तुम्हें
अस्वीकारूँगा नहीं उसको
जो कभी तुमने दिया था ।
बहता हुआ रक्त
साक्षी है तुम्हारे देय का

तड़.. तड़ातड़ तड़...तड़
अनवरत चोटें !
हाथ में, पाँव में, वक्ष पर
कीलें ठुकें; अनगिनत कीलें...
क्रास पर लटका हुआ मैं
सहूँगा, सब कुछ सहूँगा ।
बहिष्कृत हूँ, अस्वीकृत हूँ, उपेक्षित हूँ,
रहूँगा ।

एक दिन पर
देख लेना तुम्हीं
पीठ पर लादे हुए प्रसिद्धियाँ, उपलब्धियाँ, यश,
गोद में मेरी धरते फिरोगे...देख लेना तुम्हीं
और मैं असीसूँगा तुम्हें
क्रास पर लटका हुआ भी !!!

एक पृष्ठ और

मन कहता है :
तुम तक उड़ जाऊँ सदेह
तन की इच्छा भी
तुमसे जुड़ जाने की बहुत-बहुत
पर दोनों से परे एक मैं—
जो हूँ विवश, असमर्थ, असहाय ।

और सामने पोत पर बैठा कपोत
दिन के अस्थि-फूल समेट,
फैला कर डैने—फर...फररफरर...
उड़ जाता है उन पहाड़ियों से आगे,
दूर, आँखों से ओझल !

देखा यह मैंने
और जोड़ दिया
डायरी में एक पृष्ठ और :
व्याकुलता के
ऐसे ही किन्हीं क्षणों
स्रष्टा ने सिरजे होंगे पंख;
होगी भरी उड़ान ।

स्थितियाँ

जब स्मरण करता हूँ तुम्हें
कभी-कभार तो
ऐसा लगता है जैसे
एक कष्टपूर्ण मानसिक दशा है
और मैं अपनी पूरी आस्था के साथ
प्रार्थना की अंतिम कड़ी दुहरा रहा हूँ ।

जब सामने देखता हूँ तुम्हें
कभी-कभार तो
ऐसा लगता है जैसे
एक भागती रोशनी तेज-रफ़्ता है
और मैं अपने पूरे वेग से
परछाई-सा उसमें टूटता जा रहा हूँ ।

और जब तुम सामने नहीं होतीं
या तुम्हारा स्मरण नहीं करता हूँ तो
सदा ऐसे लगा करता है जैसे
मैं जम गया हूँ
एक वर्फ़ के टुकड़े की तरह
और मुझको तुम्हारा स्मरण या साक्षात्कार
अभी, इसी क्षण अपेक्षित है
और मैं फिर प्रार्थना सोचता हूँ
या परछाई सा टूट जाना चाहता हूँ ।

हम और आप

हम टूटी मूँठे,
खोखले व्यक्तित्व, लँगड़े सत्य
चरमराती आस्थाएँ हैं।

हमारी उपलब्धियाँ :
एक मुट्ठी रेत, होटल की शाम, सिगरेट का धुआँ !

और आप ?
मानता हूँ—पिता हैं
मगर उसके जिसे
विकृति-माँ पोस कर कोख में
अधूरी अवधि के
गिरे गर्भ-सा जन्म देती है।

हम जानते हैं
कि आप जनक हैं
पर अधबनी औलाद के।

तुम्हारे नाम

मैं भी जिया हूँ
ठीक उसी तरह जैसे
रोज़ सुबह उठ कर
आँखें मूँदे
पलंग के करीब ही रखे हुए स्लीपरों में
अपने अभ्यस्त पाँव कोई डाल देता है ।

भोक्ता हूँ मैं भी
हर वस्तु-सत्य का—ठीक उसी तरह जैसे
खुले हुए बेसिन के नल से
आती हुई अबाध जलधारा के नीचे
अप्रयास कोई अपने हाथ पसार देता है !

और भूल जाता हूँ मैं नित्य-प्रति
दिनचर्या के ज़हर बुझे सन्दर्भ,
दुर्घटनाओं के वृत्तानुवृत्त,
दो हज़ार दो सौ यातनाएँ...सलीब !
(अपार कष्ट, अकारण अपमान, लगातार असफलताएँ)
ठीक उसी तरह जैसे
कोई प्रताड़ित आत्मा का स्वभाव जो
अप्रतिकार भाव से सब कुछ स्वीकार लेता है। खैर,

लिखना—
मेरे इस जीने से क्या
तुम सन्तुष्ट बहुत हो
या यों ही लिखने के लिए लिखूं ?
अच्छा, शेष कभी फिर....
मुन्ने को आशीष भरी चपतें,
उनको नमस्कार कहना—उत्तर देना।
पत्र-प्रतीक्षा में,

एक तुम्हारा—
(जो हो न सका !)
—राजा

आख़िरी विदा से पूर्व : कुछ क्षण

प्लेटफ़ार्म...
टहलते हम-तुम
यहाँ से वहाँ चुपचाप !
क्या हुआ हमको—ओह !
एक दूसरे से बोलते तक नही ?

हमारे स्वर, शब्द, कंठ, जिह्वा
यानी अभिव्यक्तियों के सब निकास
एक फाँस का अनुभव कर रहे हैं।
भाप उगलते हुए
प्रतीक्षित एक लोहे से
जिसे हम रेल कहते हैं,
बहुत गहरे तक भीतर कहीं डर रहे हैं।
हम संग इतने कि जितनी छाया
पर अरे ! कितने निःसंग-से रह रहे हैं !

आज मैं क्यों नहीं कहता हूँ :
पुलोवर ठीक से पहिनो—सर्दी बहुत है।
क्यों नहीं कह रहा हूँ :
लो, ओढ़ लो यह शाल मेरा

फिर तुम्हें किसी खास कोण से देख कर—
'बहुत सुन्दर लग रही हो'
ऐसा क्यों नहीं कह पा रहा हूँ ?

और तुम भी आज यह सब नहीं कहतीं—
[अजी, सट कर मत चलो।
कान में मत फुसफुसाओ।
लोग देखते हैं—क्या कहेंगे ! भला सोचिए तो !
न; ...हमें ये शरारतें अच्छी नहीं लगतीं, कसम से !
हाथ छोड़ो, हिश्श ! कैसे हो जी ! बड़े वो,
पुरुष जो ठहरे—सब एक से हैं !]

आह ! यह हमें क्या हुआ जो
आज हम एक दूसरे से बोलते तक नहीं !
और एक फाँस का अनुभव कर रहे हैं।

तीसरे की उपस्थिति और....

याद आता है
आज भी वह सब
याद आ कर चला जाता है :

तुम्हारा एकान्त में फँस कर
छोर साड़ी का
उँगलियों से बटते हुए
लज्जातुर कंठ से माँगना बुदाबुदा कर—विदा !
और मेरा सिर हिला कर
संकेत करना—न, अभी ना !

इतने में ही तीसरी उपस्थिति और....

कान तक तुम्हारा लाल हो कर
झूठ-मूठ कोर्स की किताबें पूछना,
नोट्स देने के लिए कहना !
और मेरा बेज़रूरत
ज़रा जल्दी, अस्त-व्यस्त
कापियाँ, नोट्स, पुस्तकें ढूंढ़ते रहना ।

याद आता है
आज भी वह सब
ठीक वैसा ही जैसा कभी था
और याद आ कर चला जाता है !

कसी मुट्ठियाँ पसीजती हैं
और पसीजी मुट्ठियाँ,
राम जाने क्यों
सिर्फ़ बालू का अहसास पाती हैं !
आज पर तुम्हारी मुट्ठियों में वंश-रचना
और नसोंदार हाथों में
एकाध नन्हा रह-रह मचल रहा होगा !

पटाक्षेप

आज किसी को
अपने घर की इकलौती खिड़की में
छत पर टहलते,
धूप सेंकते,
स्वेटर बुनते देखा और देखता रहा—
बड़ी देर तक
मंत्रों से बँधा हुआ अपलक ।

फिर तुम से भी ज़्यादा
आती गयी, आती रही
याद उस स्वेटर की जो तुमने
किसको—पूछे जाने पर,
अपनी फ्रेन्ड शैलजा को—कह कर
बड़े जतन से मेरे लिए बुनी थी ।

पर स्वेटरी समर्पण के पहले ही
एक निमंत्रण पत्र मिला !
कर काँपे,
धड़कने बढ़ीं,
लहरें उठीं-गिरीं,
शब्दों की कुछ नावें तैरीं; फिर सब तैरती रहीं...

परम पिता परमेश्वर की कृपा से
मेरी ज्येष्ठ कन्या ...

आगे कुछ नहीं पढ़ा गया।
केवल कौंधा :
उत्सव, मंडप, वेदमंत्र-उच्चारण
शहनाई,
मंगलाचार, भाँवरें
डोली, कहार....

फिर धुन्ध--धुआँ--कुहरा
पर्वत
खाई
खंदक

एक शीर्षकविहीन कविता

राह चलते समय
आज फिर
पाँव को उपटा लगा—
मन हुआ दुर्विनय हो कर कहूँ तुमको 'बेवफ़ा'
मगर सोचा :
यह शब्दों का अपव्यय होगा
और फिर कुछ नहीं कहा ।
पाँव को सहलाया, चल दिया ।

बहुत बार
आज तुम्हारा नाम
(स्वेच्छा से नहीं)
ओठों पर बरबस आया-गया !
किन्तु मैंने जिह्वा को
दाँतों तले दबा कर उतने बार काट लिया
जितने बार कि ओंठों पर आया-गया नाम तुम्हारा ।

सोते समय रात को
आज फिर तुम्हारे बहुत से आकर्षक पोज़—
[पहला, मेरी रचनाओं की बेवजह
तारीफ़ और बिना समझे उन पर
दाद दिये जाना। घर आना।
घंटों पास बैठना, कहना : तुम
कित्ते अच्छे हो !
दूसरा, आत्म-समर्पण के लिए व्यग्र तुम
तीसरा, अपने पतिदेव के साथ
रस-विभोर कहीं तुम्हारा मिलना
और मुझे देख कर सहसा
अपनी सुराहीदार गर्दन
इस भाव से दूसरी तरफ
मोड़ लेना जैसे मुझे देखा ही नहीं।]
आँखों मे आए, आकारबद्ध हुए
किन्तु घबरा कर मैंने
तुरंत खोल दी आँखें
और उन्हें कमरे में टँगे
किसी भद्दे स्त्री-छाप कलेन्डर पर जमा दिया।
और जमाए रहा
जब तक नींद नहीं आयी—शायद तब तक !

वर्षारंभ : कवि के धन्यवाद

फिर पीड़ित स्मरणों जैसी
बिजली कौंध गयी ।
हाहाकारों से कारे-कजरारे बदरा गरज गये ।
अनाथ आँसुओं सा
अबाध पानी बरस गया !

पुखराजी पीड़ा की फूट गयीं कोपलें,
खिला दर्द,
टीसें महक गयीं !
घावों की दूबें
फिर से हरियायीं, हरी हो गयीं ।

अतीत-पिताओं के स्वप्न-पुत्र
मेरे आँगन के घुट्टन-घुट्टन पानी में
गए तैर; तैर गए !

मेरी राजरोगिणी कुंठा,
संयम-शिला दमित इच्छाएँ,
वासना-यज्ञों में चुरती हुई तप्त आत्मा
जल के पहले-पहल झले से
पाँवों से सिर तक पूरम्पूर सिरा गयीं ।

ओ रे, ओ वर्षारंभ
कवि के द्वारा तुमको धन्यवाद ! धन्यवाद !!

वत्सल शाम

यह वत्सल शाम
मुझे छू लेती है !
डूब जाता हूँ मैं
स्मरण-जमुना में तुम्हारी
डूब-डूब जाता हूँ !
रोम-रोम बाँसुरिया
मेरा कंठ तानसेन हो जाता है !

खंडहर पड़े किले में घुस,
मैं तुम्हें उचार आता हूँ; पुकार आता हूँ !
हरी-भरी पहाड़ियों के बेतरतीब सिलसिले
दूर-दूर तक जा कर रौंद आता हूँ !
अनगढ़ घाट घूमता,
जल में तुम्हारा नाम लिखता हुआ
नदी में कमर तक उतर जाता हूँ !

फिर किसी एक भुतहा मेंड़-टीकरे पर
थक-हार कर,
मन-मार बैठ जाता हूँ !
उदासी के फूल
समय की लहरों में
बहा देता हूँ; सिरा-सिरा देता हूँ !
दर्द के ज़र्द कपड़े उतार फेंकता हूँ !
घुटन-उबासी की सब गाँठ-ग्रंथियाँ
खोल-खोल देता हूँ !

तब मैं, अभी-अभी जन्मे बच्चे-सा
अँधियारे-साँपों के सायों से
कोई विस्मय-बोधक खेल खेलने लगता हूँ !
सारी-सारी रात खेलता रहता हूँ !

वसन्त

कल बहुत सारे
बूढ़े-पुराने
सामने के पेड़ से
पत्ते झरे, झरते रहे....
फिर देखते ही देखते
हो गया निर्वस्त्र
और शाम को
बचा केवल प्रेत-सा वह ठूँठ था।

पर देखता हूँ आज
हर एक उजड़ी–नंगी शाख पर
कुछ नया-सा जन्म हरिया रहा है !

और एक दिन यों, और यों ही
द्वार पर बैठा हुआ चुप सोचता हूँ :
असंख्य घर-मुड़ेर, छतें, सहन-सीढ़ियाँ
पार करता हुआ यह
कच्ची गंध का गुच्छा अरे, धूप सा—
इतने सबेरे ! कौन मुझको
समर्पित कर गया ! !

सूर्यास्त

दिन ढले
छतनार कूलगाछ के तले।
बैठे हुए
हम तुम
निश्शब्द
गुमसुम
अनझपी आँखों देखते और देखते सूर्यास्त !

अनागत ?
सोचते।
सिहरते
रोमांचित रोंगटे।

दिन ढले
छतनार कूलगाछ के तले !

लड़की शाम, प्रौढ़ रात और खाली मैं

शाम : एक बहुत ज़िद्दी लड़की की तरह
कमरे में घुसी
और मेरे ऊपर ढेर-सी स्याही उड़ेल
जैसे हठात् आयी थी;
वैसे बलात् चली गयी।
और मैं सोचता हूँ :
यह शाम, शाम न होती,
सिर्फ़ लड़की होती, सिर्फ़ लड़की !
तो टॉफ़ी देने से भी काम चल सकता था।

रात : एक प्रौढ़ महिला है
और प्रौढ़ाएँ प्रायः
यों ही बिना इजाज़त भीतर नहीं आतीं।
रात ने हल्की दस्तक दी है
मैंने किवाड़ खोल दिए,
'आइए', कहा और वह आ गयी है।
'बैठिए', कहा और वह कोच पर शिष्ट-मुद्रा में बैठ गयी है।
और उसने बात ही बात में
मुझे तथा मुझसे सम्बद्ध समूचे जुड़े
अस्तित्व को ढाँप लिया है !
और मैंने पौ फटे सस्नेह
हाथों में उसके, एक प्याला गर्म चाय का दिया है।

निष्कर्ष-चिन्तन

कल बड़ी रात गए
घर लौटा ।
बग़ैर स्विच् ऑन किए ही
सीने से तकिया चिपका
बिस्तर पर औंधा लेटा ।

लेटे ही लेटे सोचा :
दिन भर का लेखा-जोखा—

ऐसा लगा कि तुम से छूट
यह खानाबदोश ज़िन्दगी
कितनी अर्थहीन ! निरुद्देश्य ! !
अनचाही,
अकल्पित,
अकथ्य ।
इति—अथ : कितनी ट्रैश

'बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर'

नदी के तट
बैठें सट
पानी में पाँव डालें, उछालें ।
अँजुरी में,
शिशु-मछलियाँ भरें, छोड़ें ।
लहर पर नाम लिक्खें;
प्यार खींचें !

और जब
सम्पुटित स्पर्श से चौंक,
ढीले वदन कसमसा कर तुम
दाँत से तिनका चबाती-सी कहो—
अनकही शब्दावलि कुछ;
'अच्छा नहीं लगता...
हमें...हाँ....नहीं....तो !'

एक क्षण तब
ललक कर देखूं तुम्हें, भर नज़र
और दूजे क्षण :
गदेली तुम्हारे मुंह से लगा कर
तोड़ दूं वाक्य की अगली जुड़न को !

संझा झरे,
हम उठें, घर को चलें
किन्तु आधी राह—निर्जन !
सूने गुलमुहर के नीचे कहीं
अधर पर धर अधर दें यों
'बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर'
और श्री धर्मवीर भारती के काव्य की
यह पंक्ति सार्थक करें,
सांदर ।

?

अब मोड पर मुड़ती हुई
कारों की चिलमिलाती बत्तियाँ
हम उतने आश्चर्य से नहीं देखते !

अब बौराए आम-इमली,
गदराए सेव-नासपाती
पकते बेर-बकौलियाँ...
हमारे मुँह में पहले जैसा पानी नहीं आते !

अब फूल-फूल दौड़ती तितलियाँ,
रेत में नहाती गौरय्या,
बिल्लियों के छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे
जुगनुओं की सुलगती कतारें....
दबे पाँव पकड़ने की हम में कोई उत्सुकता नहीं जगाते !

अब खिलते गुलाब
महकते चम्पा-चमेली, दहकते टेसू
जवान गुलमुहर, केतकी-कचनार...
हमको अपनी तरफ नहीं खींचते ।

हमारी सहजता को
आख़िर यह डस कर कौन चला गया है ?
अरे, आज हम क्यों
काग़ज़ की डोगियों और धूल-कोयलों से
खेलते सुकुमार बच्चों को
बार-बार डाँटते हैं, झिड़कते हैं !

नमस्कार

सीढ़ियाँ चढ़ती हुई शाम !
मैं तुमको नमस्कार करता हूँ ।

क्योंकि, दिन के हज़ार धंधे—
(पेट, नौकरी, फाइलें, बॉस, समयाभावादि)
मगर रात को निर्विघ्न
निर्द्वन्द्व, निश्छल, एकाग्र चित्त से
किसी को बहुत प्यार करता हूँ ।

शाम, तुमको नमस्कार करता हूँ ।

दिवस-बन्धु की मृत्यु पर

पर समेट कर
जहाँ-तहाँ
बैठती जा रही है
साँझ की चिड़िया ।

अभी, बिलकुल अभी
उस क्षितिज, इस नीम पर
उजेला तोड़ देगा दम ।

दिवस जिसने
फाइलों के बीच मुझको
काग़ज़ी घोड़ा बनाया ।
टेबुलों से टेबुलों तक
बॉस के चाबुकों ने जिसे
दौड़ाया-फिराया ।
और पेड़-पौधों की जाँघ पर धरे अंगार
जल की आत्मा को
दिन भर तपाया-उड़ाया ।

अब वही दिवस-बन्धु
हाय ! मरता है ।
मरे, किसी को क्या सुख दिया जो
हम उसके लिए
ईश्वर से प्रार्थना करते-फिरें !

उदय की प्रतीक्षा में बच्चे

आह ! दिन के पक्षी के
पर कतर चले गये !
पता नहीं किस गैल-गली के
सिन्दूरी गमछा वाले सौदागर ?

सूर्य-सिपाही का लहूलुहान शव
निष्प्राण गेंद-सा
क्षितिज-छावनी में लुढ़क गया है।

कहो, राम नाम सत्य और
उसके दफ़नाने का इंतज़ाम करो।

दिन भर के कोलाहल !
मेरे कमरे की दीवारों पर वृथा सिर मत पटको।
ओ आपाधापी, भाग-दौड़
मेरे बिस्तर पर औंधी मत लेटो !
मेरे मन के उजियारे
तुम भी ख़ामोखाँ घुटनों में मुँह डाले
उकड़ूँ मत बैठो।

देखो, उदय की प्रतीक्षा में रत
बच्चे तक खेल रहे हैं !

आधी रात का उदास स्मरण

टिक टिक टिक....
टिका-टिक-टिका-टिका-टिका-टिक....
धड़कन... दीवार घड़ी...स्वर उत्प्रेक्षण ।

आधी रात हो गयी—अरे,
तुम याद आ गए सहसा !
मैं उदास हो गया ।
बहत ही उदास हो गया ।

नींद उचटने पर

नसों में घुलता हुआ नीला ज़हर
पिंडलियों में दर्द-ऐंठन
मस्तिष्क जैसे पहाड़
पसीजती जिह्वा, अवरुद्ध कंठ
टूटती कमर
उघड़ते जोड़-जोड़
रोम-रोम दुखता-सा
और दूर-दूर तक
कोई गाँव नहीं।
पत्ते तक की छाँव नहीं।
बस रेत और रेत और रेत का फैलाऽऽव

सिर पर सूर्य
टीकाटीक दोपहरी
लू-लपट बहुत ही गहरी

ऐसे में एक साँप—शायद अजगर !
मुँह फाड़े जीभ लपलपाता
श्वाँस खींचता है।

भागता हूँ भयाक्रांत :
पाँव नहीं उठते !
चीखता-चिल्लाता हूँ लेकिन,
शब्द नहीं निकलते; उच्चारण मर जाते हैं !

एक चुंबकीय खिचाव और मैं
पसीने-पसीने, हाँफता-काँपता
कहाँ-कहाँ होता हुआ
साँप के पेट में चला जाता हूँ

अँधियारी एक गुफा,
वर्षों से खाली—
कहीं कोई सूराख नहीं, छेद नहीं !

फिर आहिस्ता-आहिस्ता
वह रेंगता हुआ
किसी विशालकाय बूढ़े बरगद से
लिपट-लिपट जाता है ।
मेरी हड्डी-हड्डी चटक-चटक जाती है ।
वाचा तो खुलती है
पर नींद उचट जाती है ।

कल तमाम रात

कल तमाम रात
किसी की याद
उकेल—
बीनता—बाँटता रहा ।

कल तमाम रात
किसी का दर्द
कुरेद—
छीलता—छाँटता रहा ।

कल तमाम रात
तुम्हारा नाम
उचार—
बार-बार
लिख-लिख
गूदता—काटता रहा ।

कल तमाम रात
तमाऽऽम राऽऽत

विभ्रम

खट्....खट् ...खट्
कौन ?
कौन है जो यह
आधी रात गये मेरे बंद कपाटों पर
दस्तक देता है ?

सन्नाटा ?
पर सन्नाटे में आवाज़ कहाँ होती है !
अँधियारा होते ही
वह तो कुर्सी, अलमारी, मेजों और किताबों पर
दीवार, दरारों या तुलसाने के नीचे
जहाँ सुनसान पाता है;
सिर धर सुस्ताता है; सो जाता है !

हवा ?
लेकिन आज सुबह से ही
बड़ी उमस है
मृत्यु-से खामोश दरख्त
और नाम तक को पत्ता नहीं डुला ।

चोर ?
चोर ! चोर भला दस्तक क्यों देगा ?
और, और यहाँ थोड़े ही
कोहनूर रक्खा है !

दीवार घड़ी ?
न, वह तो हफ़्तों से बंद पड़ी है ।
धड़कन ?
चिच्...तब फिर

अरे, अरे ! यह सब क्या है ?
यह साँकल किसने खोली ?
यह मेरा ही प्रतिरूप
कौन चला आता है !
स्वर, शब्द, कंठ, उच्चारण
यह तो बिलकुल मुझ जैसे ही हैं !

क्या मैं एक नहीं दो हूँ ?

हार-स्वीकार

सोंधी बयार
यह फुहार
फिर पानी के झले,
झलों पर झलें ..
दिरक गये परती मन को
बादल की आँखें दे जाते हैं !

द्वार पर बैठा हुआ उकड़ूं
कुछ सोचता, कुछ नहीं भी सोचता-सा मैं
पानी से खेल रहे बच्चों को
अपलक देखा करता हूँ :

मगर मगर कित्तन ?
घुट्टन-घुट्टन पानी !
मगर मगर कित्तन ?
कम्मर-कम्मर पानी !
मगर-मगर कित्तन ?
हाथी-डुब्बा पानी !
मगर मगर...

पानी के थमते ही
यह पानी का खेल खत्म हो जाता है।
और अकेला मैं
कमरे में हो कर बंद,
घुटनों में सिर डाले गुहारता हूँ :

कहाँ गये !
सब कहाँ गये ?
बचपन के किस्से,
छिया-छिलाई के खेल पुराने,
माटी के घरघूले,
संगी-साथी सब कहाँ गये ?
खेल-खेल में छिपे हुए पहाड़ी गुइयाँ !
तुम सब कूका दो।
कुछ तो आवाज़ करो।
लो, मैं अपनी हार मानता हूँ।

अँधियारे में दिशाबोध जैसा

अँधियारे में दिशाबोध जैसा
कभी-कभार जब मैं तुम्हें
स्मरण करता हूँ, ओ प्रिय !

ये दिन-रात पहाड़ों-से
रुई के समान हल्के हो जाते हैं ।
फिर रुई पत्थर की तरह सख़्त हो कर
एक संगमरमरी द्वीप-सी बन जाती है ।
—भयावह निर्जनताएँ झाईयाँ फेंकती हैं
और मैं मनु-सा बैठ
प्रजाएँ रचता हूँ ओ प्रिय !

ये दोगले दर्द सहसा
जंगल भर ख़ुशबू देने लगते हैं ।
फिर ख़ुशबू जल की तरह तरल हो कर
गंध की एक बड़ी-सी नदिया बन जाती है ।
—मत्स्यगंधित हवाएँ स्पर्श छोड़ती हैं
और मैं लहर-सा फैल
तट को बाहों में कसता हूँ, ओ प्रिय !

क्रमशः

तुम पहली बार मिली जब
कितनी सहज थीं—कितनी असावधान !
यहाँ तक कि मेरी अक्षमताओं को भी तुमने
मेरा ही व्यक्तित्व स्वीकार लिया था ।

दूसरी बार :
सहजता और असावधानी के नाम
सिर्फ़ मुलम्मा था, क़लई थी
मेरे शुद्ध समर्पण को भी जब तुमने
यों ही झूठे सत्य-सा नकार दिया था ।

तीसरी बार तो जैसे
किसी पहाड़ से मुझको धकेला गया ।
जब सबके समक्ष तुमने
मेरे पूर्व-परिचय और अपने प्यार को भी
तपाक से आह !
अस्वीकार बार-बार किया था ।

मध्यम-वर्ग की ट्रेजिडी

खिचवा जेबें और प्यार :
मध्यम-वर्ग की कितनी बड़ी मूर्खता !

हम जानते हैं कि यह मूर्खता है
किन्तु इसको
स्वीकारते हैं सहर्ष, प्यार करते हैं ।

इस ट्रेजिडी के भोक्ता हैं—सभी,
मैं और तुम और वे भी जो
हाय ! इस दुनिया में नहीं रहे ।

काँटे ही सत्य हैं

हमारी-तुम्हारी मुहब्बत को
उस समय तक
सिर्फ चंद रोज़ ही हुए होंगे
कि एक दिन तुमने
चाय बना कर मुझे दी और पूछा :
'कितनी शक्कर लेंगे आप ?'
मैंने आँखों में आँखें गडा,
चुपके से मज़ाक किया था :
'उसकी क्या ज़रूरत भला,
तुम्हारे हाथ कौन कम मीठे हैं ?'

गुलाब वाक़ई खूबसूरत होता है
यह मैंने तुम्हें झेंपते देख;
उस दिन
पहली और अंतिम बार जाना था।
पर आज लगता है
गुलाब की ख़ूबसूरती नहीं—
उसके काँटे ही सत्य हैं; सत्य थे।

एक घरेलू पत्र

मेरे तुम्हारे बीच
मीलों का फ़ासला...
जंगल, पहाड, नदियाँ हैं।
दूरी इतनी अधिक कि
तुम तक पहुँचने में हफ़्तों लग जाएँ।
और तुम्हें विदित है—
मैं पूँजीपति नहीं जो वायुयान से सफ़र करूँ ?
इन दिनों बॉस भी रुष्ट—
शायद ही छुट्टी मिले !
फिलहाल, ख़तों से संतोष करो।
और वर्ष भर के सब तीज-त्योहार
मेरे बग़ैर गुज़ार दो
लो ! अशेष प्यार लो।

एक क्षण

एक क्षण तुमने दिया जो
उसे मैंने
यथासंभव मित्रता-सा
निबाहा है;
शत्रु-सा दुत्कार अनिच्छा से नहीं काटा।

एक क्षण तुमने दिया जो
उसे मैंने
विरह-सा जिया है;
गुज़ारा नहीं ग़म-सा—
सहा है, दहा है
यज्ञ की आशीषवत्
उचटती हवन की अग्नि-सा।

दरारों-सा फटा,
मध्यस्थ हो कर पिसा
किन्तु क्षण को छोड़ा नहीं
तुम्हारे दाय से स्वयं को तोड़ा नहीं —
धर्मभीरु व्यक्ति-सा धारण किया।
अहम् ने पोसा,
अचेतन आस्था ने उसे
अंक दे कर पाला-सँभाला है।

अनवरत यात्रा

जोड़ा सन्दर्भ ने;
हम जुड़े ।
आया प्रसंग कोई
काटकर हमको चला गया ।
पर अभी से मोड पर
आखिरी विदा मत लिखो ।
पाँवों से बँधी यात्रा
संभव है
कल फिर कहीं
किसी सराय, भीड़ में,
एकान्त वृक्ष के पास
या होटल की टेबुल पर हमें भेंट दे ।

परवशता

...माता-पिता, बन्धु-बान्धव, पुरा-पड़ौसियो !
तुम्हारे सम्बन्धों की वंशी में
तड़पती हुई एक मछली-सा निरुपाय,
अभी तक फँसा हुआ हूँ मैं
और तुम सबके स्मरण-काँटे
हर रोज़ मेरे गले तक
चीरते टेंटुवा,
चुभन की यंत्रणा दे कर अमाप
बाहर और बाहर निकले चले जाते हैं ।

भले कहो तुम
उठायीगीर, यायावर मुझे,
कहो, कहते रहो ।
मगर अपनी चीख़ को मैं
शब्द नहीं दे पाता हूँ ।

आह ! बहुत-सी दशाओं में
एक ऐसी भी दशा है;
जहाँ मैं हूँ ही नहीं
और हूँ भी तो
इतना विवश, इतना विवश
कि सिर्फ़ रोटी हूँ, पेट हूँ ।
सिर्फ़ रोटी हूँ; सिर्फ़ रोटी !

रेखा-पुत्र

आसपास खिंचे हुए
वृत मत देखो ।
बल्कि पकड़ो उस विन्दु की आत्मा को
जिसने इन रेखाओं को
जन्म दिया है ।
वृत तो बाहरी चीज़
मगर बिन्दु रचना है, माता है ।
हम सब रेखा-पुत्र हैं
एक उसी के जाये ।

मुझमें....

मुझमें यदि सचमुच
लोहा है, गिलट है
तो इसमें कुछ दोष नहीं मेरा—
क्योंकि तुमने वह ताप ही नहीं दिया
जो उसको पिघला कर
धमनियों में बाहर काढ़ता
या, उस सब को सोना करता
जो लोहा है, गिलट है।

सर्प-आवाहन

भागते हुए साँप
ठहरो ! !
लो ! जहाँ जी में आए और भाए
काट लो मुझको,
काट लो, ओ साँऽऽप

विष चाहिए—विष
अमृत से अघाए
व्यक्तित्व को विष चाहिए—विष !

भागते हुए साँऽऽप ! ! !

परीक्षा

यदि आँसू
स्वाति के जल,
दर्द सीपियाँ हैं ?
ओ रचनाकार महान !
अब भी तुमसे
जो मोती न बनें तो
हर सीपी बाँझ और
स्वाति के जल
केवल मगर-मच्छ के आँसू हैं ?

एक कौतुकपूर्ण जिज्ञासा

एक दिन यों ही
चुपके से उठें,
कमरे से निकलें,
साँस छोड़ते,
आँगन में आएँ।
और खड़े-खड़े उजियारे के जल में
वस्त्रों समेत नहाएँ !
भर-भर पिएँ चाँदनी
हाथों का खोबा बनाएँ !
क्षण दो क्षण जिएँ चाँदनी,
समेटे तरलता आएँ-बाएँ।

कुछ सोचें-विमूरें,
यहाँ-वहाँ बेकाम टहलें !
खंभे छुएँ, परछाइयाँ छोडें !
दुलकियाँ दौडें हाँफ-हाँफ कर,
बुरी तरह थक-थक जाएं !
टिकाएँ पीठ तुलसाने ;
कैंची बनाकर पसारे पाँव, मुस्काएं !
और बैठे-बैठे फिर
उँगलियाँ चटकाएं; रह-रह सीटियाँ बजाएँ !

—कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा
भानुमती ने कुनबा जोड़ा—
कुछ ऐसा ही रागों मे बाँधें, गाएँ !
पर कुछ देर बाद सहसा
गला फाड़ चिल्लाएँ !
घर के लोग उठें, घबराएँ !
किन्तु मुझे चुपचाप टहलता देख—
सब के सब झेंप-झेंप जाएँ !

बक़लम राजा दुबे

किसी भी राष्ट्र में यदि
एक भी एम. ए. पास व्यक्ति
बेरोजगार और भूखा मरे !
संभ्रान्त नागरिक अगर
पेट और पैसों के लिए
बीवी-बहिन की 'ब्रोकरी' करे !
उस देश का वज़ीरेआज़म
नेहरू रहे चाहे आइक
उस देश की रक्षा ? अरे,
करे तो ईश्वर करे
अन्यथा, फिर शिवहरे !!

कारण-अकारण

आज अलस्सवेरे उठा ।
माँ के चरण छुए,
पिता को प्रणाम किया ।
विधिवत् स्नान-ध्यान किया ।
रामायण पढ़ी, गीता के श्लोक रटे ।
बग़ैर बोले-चाले भोजन किया ।
बहिन की नाक और चोटियाँ खीचीं,
सिनेमा ले जाने का वादा दिया ।

अच्छी तरह बाल काढ़े,
साफ़-सुथरे कपड़े पहिन
ठीक समय कालेज गया ।
माँ ने सोचा :
शायद लड़का सुधर गया ।
और पिता ने जल्दी ही शादी की बात सोच ली ।

लेकिन शाम को :
कम शक्कर होने की वजह से
प्याला समेत चाय फेंक दी ।
छज्जे पर खड़ी बहिन को झिड़क दिया ।
माँ की परसी हुई थाली
सामने से हटा दी ।
पिता ने कहा—'सुनो'
तो सुना नहीं ।
अकेली कमीज़ पर
ठंडी रात घूमने चला गया ।

ख़ूब रात गये लौटा ।
बक्सा खोल
कुछ पत्र, एक फ़ोटो, एक स्वेटर निकाली ।
पत्र और फ़ोटो जला दिये ।
स्वेटर को उकेल डाला ।

एक दिन

जब मेरे घर बग़ैर बुलाए
एक दिन तुम आयी थीं

तुलसी के बिरवे को तुमने
पानी का अर्घ्य चढ़ाया था।
माथा टेका था।
अपनी शिव-पूजा का मुझको
स्मरण दिलाया था।
मेरी नष्ट-भ्रष्ट दिनचर्या को
(ईश्वर ने चाहा तो) भविष्य में
ठीक-ठीक व्यवस्थित करने जैसी बात कही थी।

दीमक खाती हुई किताबों को
उलट-पुलट कर देखा था।
पर उनमें भद्दे चित्रों की आकृतियाँ बनी देख,
महिलाओं के लिखे नाम पढ़ कर
तुमने पुरुषों की नैतिकता को कोसा था।
लेकिन फिर हँसते हुए,
झाड़-पोंछ कर उनको
कमरे के विधुर पड़े आलों में
बहुत पुरानी तारीखों के अखबार बिछा कर,
बड़े कलात्मक ढंग से,
एक खास अनुक्रम में जमा दिया था।

इतने से ही जब तुमको
संतोष नहीं हुआ था।
तुमने फेंटा-सा बाँध कमर से
बारा-जुड़े बाँस को ले कर
मकड़ी के जालों को भी
हाँफ-हाँफ कर साफ़ किया था।

जब मेरे घर बग़ैर बुलाए
एक दिन तुम आयी थीं।

आज भी

आज भी जब
गुलमुहर फूल देता है :
जी में कहीं
वसन्त जी जाता है ।

आज भी जब
घर में पहली धूप आती है
सबेरे-सबेरे !
अपेक्षाकृत कम ही सही मगर
अच्छी लगती है; जरा-सी मैं भी ओढ़ लेता हूँ ।

आज भी जब
कोई डोली इधर से गुज़रती है ।
सोचता हूँ :
ये कहार भी कैसे लोग हैं !
यह ब्याह भी क्या चीज़ होता है ?
और भीतर कहीं कुछ डबडबा जाता है ।

आज भी जब
कभी कागा मुड़ेर बैठता है :
—अभ्यस्त आँखें
दूर तक सड़क पर
पुरानी प्रतीक्षाएँ और परिचय बुझे
बीन आती हैं ।

अभी भी पहले जैसा
कुछ बचा है जो पूरी तरह
समय रौंद नहीं पाया; कुचल नहीं गया ।
या मैं ही अपने को मार नहीं पाया ।
आज भी जो
इस 'नोन-तेल-लकड़ी' के बीच
लगते अगहन में
तुम्हारे मायके आने की बात सोच जाता हूँ !

सर्प, रेत और केंचुल

मैं जो नहीं था
उसे तुमने चाहा, प्यार किया।
किन्तु मैं जो हूँ, या था कभी या आगे भी रहूँ :
वह तुम्हें राम नहीं आया।
शायद हमारे कर्म और विचारों के दरम्यान
एक लम्बी खाई थी—
हम चाहते हुए भी जिसको पाट नहीं सके।

कोई ऐसा सेतु
जो हमको बाँधे नदी के किनारों-सा
और बाँधे रहे :
हम रच सकते थे पर नहीं रचा।
हमारी उँगलियों में
जो रेत-सी कसमसायी,
शिराओं में जो सर्प-सा दौड़ा,
रक्त-सा उतर आया;
यह सब और उसके अर्थ क्या थे
जो हममें केंचुल-सा उतार
फेंकने की इच्छा जागी थी ?

अपशकुन और परिणाम

रात भर सेइ फिदकी ।
मुहल्ले भर के लावारिस
खजहे कुत्ते रोये ।
सुबह बदन पर छिपकली गिरी ।
घर से निकलते ही
पड़ौसी बनिये की बहू ने
तपाक् से छींका ।
मोड़ पर काना दिखा ।
बिल्ली ने रास्ता काटा ।
बाप रे, बाप ! !
इतने सारे अपशकुन ? एक साथ !
आज के दिन
रक्षा करो भगवन् !

पर शाम तक
मेरी लगी-लगायी नौकरी छूट गयी थी ।
माँ की सुहाग-चूड़ी फूट गयी थी ।
और बहिन की मँगनी टूट गयी थी ।

अन्यथा

हम अंग्रेज़ी पिक्चर
सिर्फ़ इसलिए देखते हैं
कि उसमें हर पाँच मिनट के बाद
कम से एकाधिक चुंबन होता है।
इसलिए नहीं कि हम अंग्रेज़ीदाँ हैं और
इन्डियन पिक्चरस टेस्टी नहीं होते; बंडल बनते हैं
या हम अपने पितरों से आज कहीं अधिक मॉडर्न हैं।

हम छुरी-काँटे से
सिर्फ़ इसलिए खाते हैं
कि उससे हमको होटल का बैरा
कल्चर्ड समझ कर टिप की आशा रखता है।
इसलिए नहीं कि हम इसके आदी हैं और
हमारी भोजन-पद्धति अवैज्ञानिक है; नाखूनों में ज़हर होता है
या हम अपने बड़े-बूढ़ों से कहीं ज़्यादा सेन्सबिल हैं।

हम लव-मेरिजें
सिर्फ़ इसलिए करते हैं
कि और भी लड़कियाँ हमें आदर्श बनाएँ;
खिचें और क्लब में हमारे साथ रंभा-संभा नाचें।
इसलिए नहीं कि हम जाति-उन्मूलन और प्यार के क़ायल हैं
या हम पिछली पीढ़ी से कहीं अधिक रूढ़ि-द्रोही हैं।

अन्यथा हिन्दी में इतनी सारी
सेक्सी और गंदी फ़िल्में नहीं बनतीं।
भारतीय नारियाँ साँप से भी बढ़ कर
ख़तरनाक मानी जातीं!
और जेलों के बाद सब से ज़्यादा ऊँची दीवारें
हिन्दुस्थान में तो कम-स-कम
विमेन्स कॉलेजों की नहीं होतीं।

तट का संरक्षण

यह काग़ज़ की डोंगी है,
डूबे तो डूब जाए
पर यदि न डूब सके तो
इसको तट का संरक्षण दे देना ।

काग़ज़ का स्वभाव गलना;
इसलिए मरणधर्मा है यह
शिशु-जिज्ञासाओं की अभिव्यक्ति
लेकिन बच्चों का खेल बन्द न हो—
डाँट-डपट कर तुम
शक्ति-शरण दे देना ।
काग़ज़ की डोंगी को
तट का संरक्षण दे देना ।

सच मानो उस समय

जब गौरय्यों के झुन्ड के झुन्ड
आँगन में आ कर
इधर-उधर फुदकते हैं, फिरते हैं
और भगाने पर भी नहीं भागते;
टुकर-टुकर मुझको हेरा करते हैं।
सच मानो उस समय
कोदो-कुटकी फेंकते हुए तुम्हारे पालक हाथ
मेरे सामने झलक-झलक जाते हैं।

जब दियों की कतारों पर कतारें
शहर में हर जगह
द्वार-द्वार झिलमिलाती हैं, जलती हैं
और मुझे ढूँढ़ने पर भी
तेल नहीं मिलता, बाती नही बटती;
दिये फूट जाते हैं।
अँधियारा दीवारें चूसता रहता है
सच मानो उस समय
दिया जलाने वाले दो प्रकाशित हाथ
(पता नहीं जो किस द्वारे
अपनी देह जलाते होंगे !)
मेरे सामने चमक-चमक उठते हैं।

जब भिखारियों की भीड़ की भीड़
दरवाज़े से लग कर
भीख माँगती है, याचना करती है
और हटाने पर भी नहीं हटती;
बल्कि और और गिड़गिड़ाती है
सच मानो उस समय
अनाज भरे हुए तुम्हारे दयावंत हाथ
मेरे सामने खनक-खनक जाते हैं।

समय की रौंद

अभी-अभी मैं था ।
अभी-अभी तुम थे ।
हमारे साथ परिचय थे; प्रतीक्षाएँ थीं !
क़िन्तु अब सिर्फ़ धब्बा है
एक धब्बा जिसे
समय के सख़्त पाँव
रौंद कर चले जाएँगे ।
कल तक रह जाएँगे
दो-चार शब्द ओठों पर जीवित,
फिर हम नहीं—
हमारा अतीत जिएगा
उजला-काला ।

अभी-अभी मैं था ।
अभी-अभी तुम थे ।
हमारे साथ परिचय थे; प्रतीक्षाएँ थीं ।
किन्तु अब सिर्फ़ धब्बा है ।

ज़हर बुझी सिद्धि

जल में हमने
जो लकीर खींची—
वह तो एक हास्यास्पद प्रयास था
उपलब्धि नहीं;
मूर्खता से भरा हमारा ही दाय था।
समुदाय से छूट कर हमने
जो ईकाईयों का जीवन जिया था।
लिया ज़्यादा, पर कम दिया था।

मैं और तुम और सब
किसी एक बड़ी-सी चीज़ के सिलसिले थे।
सिलसिला जो हमारा था
जिसे हमने बुना था।
किन्तु हाय, स्वतंत्र सत्ताओं की कलमुंही लालसा
और बासे सत्य
हमारी एकत्र आत्मा को
तोड़ते और तोड़ते चले गये।

आज हमें जो
लकवा-सा कुछ मार गया—
वह हमारा ही विचार-पाप है।
हमारे ही झूठे अस्तित्व-बोध की
यह ज़हर बुझी सिद्धि है।

मांसल स्पर्श

मत मुझे दो
मांसल स्पर्श अपना ।

सृजन की सम्पुटित शक्तियाँ सब
आह ! तुम्हारी छुअन से
बिखर जाती हैं ।
मेरी जन्मजात सुआ-पंखिनि पीड़ा का
क्वाँरापन काँच-सा टूट जाता है
होते-होते रह जाती हैं रचनाएँ
मुट्ठियों में अटती नहीं रेत ज्यों
खिसक जाती हैं ।

मत मुझे दो
सम्पर्क-सुख, मांसल स्पर्श अपना ।

स्व० मित्र की भूतपूर्व प्रेमिका के नाम

बहुत-सी लड़कियों की तरह
तुम भी एक लड़की थीं
जैसा कि बहुत-सी लड़कियाँ
एक खास उम्र के दौरान में देखा-देखी
या सिनेमा व सस्ती किताबों के प्रभाव से
ज़रूर किसी एक लड़के से प्यार करती हैं :
तुमने भी किया।

फिर किसी एक खास मोड़ पर
जैसा कि अन्य बहुत-सी लड़कियाँ
माँ-बाप की डाँट-डपट या कहीं और शादी पक्की हो जाने के कारण
या किसी और वजह से
(वजह कुछ भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती)
अपने-अपने प्रेमी का दिल तोड़ देती हैं :
तुमने भी तोड़ा।

तुम्हारे प्यार करने और तोड़ने में
किसी को भला क्या आपत्ति ?
मुझे भी नहीं है (और होनी भी नहीं चाहिए)
क्योंकि सार्वजनिक सत्य होते हुए भी यह
व्यक्तिगत मामला है बहुत कुछ।

तब भी, चूँकि मेरा मित्र
जो तुम्हें प्यार करता था
और शायद तुम्हारे लिखे खतों से भी
मालूम पड़ता है यही
तुम भी उसे प्यार करती थीं
भले बनावटी ढंग से ही सही
(क्षमा करना, उसकी पेटी खोल कर मैंने
वे सारे लव-लेटर्स पढ़ लिए हैं जो कभी
तुमने उन्माद के क्षणों में लिखे थे
इस अनैतिक अपराध को मैं स्वीकारता हूं)
वही आज रेल से कट कर
इस लोक से उस लोक की
यात्रा पर चला गया है सहसा
सिर्फ़ एक पुर्ज़ी छोड़ कर
जिसमें लिखा है—तुम्हें संबोधित करते हुए
कि जब का भरोसा ही उठ गया,
हम जी के क्या करेंगे ?

उसके मरने का दोष या दायित्व
मैं तुम्हारे माथे नहीं मढ़ता
बल्कि वह मूर्ख था
जो इतनी छोटी-सी बात पर आत्महत्या जैसी
चीज़ का शिकार हुआ यों
फिर भी एक बात या दो बातें पूछना चाहता हूँ
मानलो, तुम्हारा लड़का
मेरे स्वर्गीय मित्र के बराबर है
और वह तुम जैसी ही किसी एक लड़की से
बेहद प्यार करता है

पर लड़की इस वजह से या उस वजह से
या खुशी-खुशी
उसका दिल काँच-सा तोड़ देती है,
वह अपने को सँभाल नहीं पाता
और कुएँ में डूब मरता है।
तब तुम्हारा हाल क्या होगा ?

या माँ से पहले तुम लोग
माँ नहीं होतीं; सिर्फ़ लड़की या कुछ और
या माँ-सा कलेजा कोई तुमको
बहुत बाद में देता है
जबकि तुम ज़िन्दा नहीं रहतीं; मर जाती हो
लड़की और माँ
एक चीज़ की दो स्थितियाँ हैं—सही है
मगर चीज़ तो एक—याने कि औरत।

अच्छा, प्रणाम
योग्य सेवा ?
हाँ, इस लिखे को मात्र जिज्ञासा ही लेखना
मन पर कुछ ऐसी-वैसी बात नहीं लेना
यों मित्र के नाते
तुम भाभी हो और भाभी माता ही जैसी
लेखी जाती है हिन्दोस्ताँ में कम से कम।

गायक कवि-मित्रों से सादर

बनाओ दर्द को दिया
चाहे पीर को पायल
या भले स्वर को करो सहगल
गीत तो मर जाएगा।
पर हाँ, गाना जियेगा ज़रूर
नगर में किसी नयी
फ़िल्म के आने तलक।

गिरधर गोपाल और लाल दुपट्टा

बनिया की बिटिया
शादी से पहले
रोज़ खड़ी हो कर छज्जे पर
गाती थी गाना शुद्ध :
'मेरा लाल दुपट्टा मलमल का'
लेकिन आज वही
बनिया की बिटिया
शादी के बाद
ब्रह्ममुहूरत में जग कर नित्यप्रति
गाती है अशुद्ध भजन :
'मेरा तो गिरधर गुपला,
दूसरा कोई नहीं'

समय का फेर

हुआ समय का फेर
गधा खाए पंजीरी ।
'फ़रहाद' करे अर्दली
बर्तन माँजे 'शीरी' ।
राज्य करे टीन का नेता
नर से बनती नारी ।
इस कलजुग का और बखान करूँ क्या ?
गूँगा गुड़ का स्वाद बताए,
फ़ाक़ेमस्त अमीरी ।

फ़क्र की बात

उल्लुओं को मिले सिंहासन
गधों के सिर पर ताज हैं।
ब्लेडों से काट कर नाखून
हो गये कुछ यों भी शहीदेनाज़ हैं।
कल तक छिपे रहे जो
ज़ंगे-आज़ादी में किसी पेटीकोट के भीतर
वही आज शासन के कलपुर्ज़े,
हिन्दोस्ताँ के रामराज हैं।

'निराला' की जयन्ती पर

अब भले मनाएँ जयन्तियाँ
फेरें रात-दिन राष्ट्रभाषा की माला ।
पर जीते जी हमने
हिन्दी का एक तुलसी मार डाला ।
साहित्य को खा गयी राजनीति
हाय ! किसी 'जवाहर' से
कम नहीं था—
पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ।

दोगली नस्ल और कोढ़ी गन्तव्य

तुमको तो पथ-यात्राएँ
कुछ और नहीं थीं
केवल पाँवों के अभ्यास मात्र हैं !
विराम-द्वीप पर
थक बैठ गये ओ मेरे संकल्पो !
उट्ठो, और पसीने में डूब गयी
कल की प्रतिज्ञा को वाचाएँ दो ।
ताकि वह
कोढ़ी गन्तव्यों से कह दे :
वे भले क्षितिज बनें,
अनछुए रहें—
हम बौने लेकिन रामकसम,
पीछे छोड़ कभी के सबको
आगे निकल आए !

हमने ही उनको
नहीं छुआ...
क्योंकि वे कोढ़ी थे,
उनकी नस्ल दोगली है ।

टूटे संवेदन और बूढे ऊँट

हम कच्ची आयु के
टूटे संवेदन
मत पूछो, हमसे
यात्राएँ मत पूछो, मत पूछो ।

कुहरा डूबी साँझें
बियावान वनों में
हमें भटकता छोड़ गयीं
आह ! भटकता छोड़ गयीं ।

आधी रात गये
सोए तम्बू में
कुछ प्रेतनुमा छायाएँ
जलते स्पर्श और संक्रामक ईर्ष्याएँ और भुतहे आभास
और छल की छापें छोड़ गये
आह ! छोड़ गये ।

पथ के दावेदार कहाने वाले
सहयात्री, सहभोगी
हम सबके ओठों पर नागफनी
आँखों में चक्रावात,
आत्माओं पर सूजन दे कर चले गये
आह ! चले गये ।
हम कच्ची आयु के टूटे संवेदन
फिर भी बचे रहे, बचे रहे ।

जो अनछुए रहे
वे कहलाएँ क्षितिज,
जिनको छू कर आये हम
वे तो विष डूबी गलियाँ;
डस गयीं जो
सबकी यात्रिक-निष्ठा को
ऐसी सर्प-डगरियाँ हैं ।

हम बनजारे, शिशु-बनजारे
जहाँ गये, जहाँ-जहाँ पहुँचे ..
नदियों ने ढहा दिये तट,
अंधड़ ने फाड़े पाल,
मल्लाहों ने नौकाएँ डुबा दीं
हम जहाँ-जहाँ गये
कच्ची आयु के
टूटे संवेदन...

पर ये बियावान वन
सर्प-डगरियाँ, अनछुए क्षितिज, प्रेतनुमा छायाएँ
फटे पाल, ढहते तट, डूबी नौकाएँ...
साक्षी हैं कि
हमने आश्रय की भिक्षाएँ नहीं स्वीकारीं ।
आस्थाओं का नीलाम नहीं बोला ।
यात्राएँ गिरवी नहीं रखीं ।
अपने बूढ़े ऊँट नहीं बेचे ।
कुल की मर्यादा को नंगा नहीं किया ।

शिशु-सुरक्षा

आज मैंने
दर्द को सहा नहीं
बल्कि उसे गहरे तक स्वीकार
दूध पीते बच्चे की तरह
साँस रोके, आँख मींचे
गटगटा कर पी गया ।

सुनो, ओ कंस के वंशजो !
अभी तक जब मरा ही नहीं
तो अब मरुँगा भी नहीं;
मरा पहले भी नहीं था ।
कला पर केचुलें थीं सिर्फ़,
कृति के पाँव भारी थे ।
किन्तु आज ऐसा नहीं–
केचुलों की जगह
आस्था के कवच हैं !
और सृजन का हर छोटा-बड़ा शिशु
जहाँ भी है
सुरक्षित है, सुरक्षित है !

३ आत्म-कथ्य

सीमित परिधियाँ..
रूप-रचना
सृजन की उपलब्धियाँ : सब शून्य
बहुत छोटे आदमी के
ओ बहुत, बहुत छोटे स्वप्न !
मुट्ठियों में बंद बालू-से
कसमसाओ मत,
बहुत सम्भव
यह विवशता मुकरात जन्मे ।
परिधियाँ विस्तार दें ।
शून्य रूपायित करे,
तुम्हें आकार दे ।

अभोज्य मछलियाँ
बदबूदार आत्मा
व्यक्तित्व की उपयोगिता : कीच, केवल कीच
बहुत सकरे पोखरों के
ओ बहुत गंदले जल !
उपेक्षित हंस-पाँतों से
अस्थिर लहर-करवटों से दूर
खलबलाओ मत,

बहुत सम्भव–
यह असमर्थता
मोती छिपाये सीपियाँ
मेघों भरा आकाश उगले ।
मछलियाँ ईंधन बनें,
कीच बोये कमल, और अतर्कित
अदम्य जिजीविषा दे जाये तुम्हें ।

टूटी बैसाखी...
अपूर्ण आकृतियाँ,
हाँफती चेतना : वास्तव की प्रतिक्रिया
गन्तव्य दिशा : बीहड़ झारखड, दिग्भ्रम, रेत और रेत....
ओ रेंगती परछाइयों के
झगड़ते, चरमराते, टूटते अस्तित्व-खंड !
हर वृद्ध आशीष से वंचित
सुगबुगाओ मत,
बहुत सम्भव–
यह तिरस्कार,
कटे शीश, उघड़ी टाँगे, गले हाथ
फिर दे जाए तुमको
और आकृतियाँ,
रक्तमाँस-मज्जा भर ले ।
नदियों के द्वीप नहीं
ये दिग्भ्रम, दिशा देश की दें ।
माथे पर चाँद
वक्ष पर सूर्य धरें ।

हलन्त

मुझे हाशिए-सा
भले ही छोड़ते चले जाओ
किन्तु मैं
वह हलन्त हूँ जिसके बिना
तुम शब्द होते हुए भी पूरे नहीं—अशुद्ध हो।
यह तुम्हारी नियति है :
मैं क्या करूँ ?
मुझसे विलग तुम्हारा निस्तार सम्भव नहीं
इसे तुम विडम्बना समझो, चाहे कुछ और
मगर सत्य तो यही है।

उन सब को

वे,
जो दीपक के हाथों से
रोशन पतवारें छीन,
उसे—
अँधियारे के जल में सिरा गये !

वे,
जो बहार के पाँवों से
प्रसून-पायजेब उतार
उसे—
व्यथाओं के वन में हिरा गये !

वे,

जो आस्था की आँखों से
अधबनी पुतलियाँ नोच
उसे—
अनास्था के आँचल में गिरा गये !

वे,

जो सपनों के गाँवों से
सत्यों के पुखराज बीन
मुझे
उजाड़ पिराती पीर पिरा गये ।

उन सबको मेरी श्रद्धा
विनत प्रणाम ।
क्योंकि वे अनजाने ही
मुझमें जो प्रभु था
उसको अनबूझे तिरा गये !

स्पष्टीकरण : एक आत्मस्वीकार

था,
क्षण यह भी नपुंसक है
साक्षी है तुम्हारा ही प्रभु
मैंने कुछ नहीं रचा।
औरों ने या तुमने
ले कर संवेदन सागर का
सिरजी सिर्फ़ रेत, बाँझ सीपियाँ
नौकाएँ-डुबाऊ भ्रामक तट, परास्त पीढ़ियाँ...
लेकिन हूँ मैं आज भी
अनरचा, उपलब्धि-हीन;
हो नहीं सका पिता...आह !! —
गंजी कृतियों का, लँगड़ी कविताओं का।

मतभेदों के जब
ताप उतर जाएँ और
मिलो तुम सब निर्व्याज अगर कहीं
किसी कैफ़े या चौराहे पर
पूर्वाग्रहों के केंचुल फेंक,
तो यह सोच क्षमा कर देना मुझको
कि तुम सबके बीच
ऐसा भी कोई जन्मा था जो
कुल-कपूत निकला,
वंश डुबो कर
निःसंतान मर गया—बेचारा !

क्षमा-याचना

मेरे आसपास
सब बेज़ुबाँ, सब उदास ।
मैं हूँ ?
हूँ मैं !
जैसे सड़ी लाश पर
गीदड़ एक बैठ जाए ।

मेरा अस्तित्व-बोध,
व्यक्तित्व-बोध
किसी वाक्यरहित शब्दों-सा अर्थच्युत !

यह निस्संग जीवन हाय
समाप्त हुआ मेले जैसा–
खुल गये हिंडोले जिसके
तम्बू उखड़े; दर्शक चले गये !
सब चले गये !!

अब हवा में तैरता हुआ मैं
एक विवश संवेदन जैसा हूँ !
एक अर्थ-हीन अभिव्यक्ति जैसा हूँ !
क्योंकि जिसने जो फेंका,
जैसा उछाल दिया था
वह आज भी वैसा ही
मेरे विकलांग ओठों पर
कोढ़ सरीखा जीवित है ।

अह ! मेरी ही कुंठाएँ क़ातिल,
मेरा ही अहम् पोपला सड़ा-गला,
मेरी ही आस्थाओं को दिक था ।
तुम सब दोषमुक्त थे ;
दोषमुक्त हो !
मेरे झूठे आरोपों को क्षमा करो ।

अन्तिम

माँ,

यह आँचर का तुम्हारा लाड़ला
पीस कर चक्की जिसे पाला ।

बहिन,

तुम्हारी यह भुजा
बाँध कर राखी जिसे
भरोसा अभय रक्षा का लिया ।

पिता,

बुढ़ापे की तुम्हारी यह छड़ी
सौंप कर जिसको
ढलती उमर की धूप, झुर्रियाँ, अनुभव सभी
चाहा था कभी–
ज्वार-बाजरे की सही
बहू के हाथ से पर
दो रोटियाँ सुख की ।

मगर माँ,
आँचर हुआ बदनाम,
बहिन, तेरी भुजा टूटी,
ओ पिता, बुढ़ापे का सहारा
तुम्हारी यह छड़ी—पड़ गयी झूठी।

क्योंकि हो कर पास एम. ए.,
राष्ट्रभाषा का एक छोटा-सा कवि
तुम्हारा राजा दुबे
चप्पलें चटकाता हुआ बेकार
ढूँढता फिर रहा है भारत में क्लर्की।
सिर्फ़ अस्सी रुपये की।